अहिंसक श्रम

आर्थिक प्रक्रिया से सांस्कृतिक मूल्यबोध तक का सफ़र

आलोक टंडन

आज जिस दौर में हम जी रहे हैं वह पूँजी के वर्चस्व का दौर है। देशी पूँजीवाद के मुक़ाबले भूमण्डलीय पूँजीवाद ने श्रमिक को और हाशिये पर ला दिया है। पूँजीवाद के विकल्प की खोज में किये गये मार्क्सवादी प्रयोगों की विफलता ने जहाँ समाजवादी समाज के सपने को धूमिल कर दिया है, वहीं आधुनिक प्रौद्योगिकी की नित नयी उपलब्धियों (स्वचालन, कृत्रिम बुद्धि) ने शारीरिक श्रम और श्रमिक की प्रासंगिकता पर ही प्रश्न-चिह्न लगा दिया है। ऐसे में डॉ. शम्भू जोगी कृत *अहिंसक श्रम दर्शन* एक साहसपूर्ण प्रयास जान पड़ता है जिसमें श्रम से जुड़े व्यापक विमर्श को गाँधी विचार के संदर्भ में एक बार फिर विचारने का प्रयास किया गया है। पुस्तक की भूमिका में ही उन्होंने श्रम के बारे में प्रचलित धारणा कि श्रम केवल एक आर्थिक प्रक्रिया मात्र है, को प्रश्नांकित करते हुए अपना उद्देश्य स्पष्ट कर दिया है कि क्या एक वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रदान कर सकने में गाँधी के श्रम संबंधी विचार प्रासंगिक हैं या नहीं। आइए देखें कि लेखक अपने प्रयास में कितना सफल हुआ है।

गाँधी पर टॉलस्टॉय और रस्किन के विचारों के प्रभाव से हम सभी परिचित हैं, लेकिन कम लोग ही जानते हैं कि सबसे पहले 'लेबर फ़ॉर ब्रेड', जिसे बाद में 'ब्रेड लेबर' में बदल दिया गया, का प्रयोग रूसी किसान दार्शनिक-संत टी.एम. बोंदारेफ़ द्वारा अपनी पुस्तक *लेबर : द डिवाइन कमाण्ड* में किया गया था। इस विचार के वैश्विक स्तर पर प्रचार-प्रसार में टॉलस्टॉय की भूमिका प्रमुख रही। उनकी निगाह में हर व्यक्ति का अनिवार्य कर्तव्य है कि वह रोटी के लिए श्रम करे। टॉलस्टॉय के अनुसार शारीरिक श्रम का सिद्धांत हर व्यक्ति के लिए श्रम को अनिवार्य बनाकर उन्हें परस्पर विरोधी वर्गों में बँटने से रोकता है। साथ श्रम करने से व्यक्तियों में प्रेम और सहयोग फैलता है जो समाज में भूख और ग़रीबी समाप्त कर नैतिक उन्नयन का कारण बन सकता है। शारीरिक श्रम की यह अवधारणा गाँधी को टॉलस्टॉय की मूल्यवान देन थी जिसके आधार पर उन्होंने अहिंसक समाज के निर्माण के लिए अपनी श्रम-दृष्टि को विकसित किया। साथ ही रस्किन की पुस्तक *अंटु दिस लास्ट* में व्यक्त विचारों का प्रभाव भी गाँधी पर विशेष रूप से पड़ा। पूँजीवादी उद्योगीकरण ने श्रम को दोयम दर्जा प्रदान किया। जड़वत् उत्पादन और उपभोग के कारण श्रमिक के व्यक्तित्व का एक ओर अवमूल्यन

अहिंसक श्रम-दर्शन : गांधी विचार के संदर्भ में (2017)
डॉ. शम्भू जोशी
वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर
मूल्य : 600 रु., पृष्ठ : 300

हुआ, तो दूसरी ओर श्रमिक के रूप में उसका शोषण होने लगा। श्रमिक वर्ग ने जिस श्रम आंदोलन को जन्म दिया उसने भी अपनी भागीदारी का विशेषाधिकार प्राप्त करने के लिए उसी प्रौद्योगिकी और उद्योगीकरण का रास्ता अपनाया जो पूँजीवाद का आधार थी। वैकल्पिक विचारधारा के रूप में जिस साम्यवादी व्यवस्था का जन्म हुआ, वह भी श्रमिक को एक स्वतंत्रचेता व्यक्तित्व प्रदान करने में सफल नहीं हो सकी। गाँधी ने अपने अनुभव से जाना कि श्रम-समस्या केवल श्रम की ही समस्या नहीं है। इसके कई व्यापक आयाम हैं। श्रम और पूँजी के संबंधों के स्वस्थ हुए बिना समाज के स्वस्थ होने की कल्पना निराधार है। लेखक की सफलता यही है कि उसने प्रथम अध्याय में ही श्रम की अवधारणा स्पष्ट करते हुए हमारा परिचय उस बृहद् परिप्रेक्ष्य से कराया है जो गाँधी की श्रम-दृष्टि के निर्माण की पृष्ठभूमि है। साथ ही मानवीय विकास में श्रम की भूमिका की चर्चा करते हुए एंगेल्स, मार्क्स, एडम स्मिथ, रिकार्डो, मैक्स वेबर, कींस, सी. राइट मिल्स, हन्ना अरेंत, माइकल हार्ट, ऐंटोनियो नेग्री और ए.डी. गोर्डन तक के विचारों का समावेश किया है। निश्चय ही मार्क्स का अलगाव का सिद्धांत श्रम-संबंधी किसी भी दृष्टि के निर्माण की कसौटी तय करता है, लेकिन सूचना क्रांति और पूँजीवादी भूमण्डलीकरण के बाद श्रम के महत्त्व का जो क्षरण हुआ है उसका समझने के लिए मार्क्स के सिद्धांत की उपयोगिता / अनुपयोगिता पर भी थोड़ा और विचार अपेक्षित था क्योंकि लेखक ने स्वयं इंगित किया है श्रम की लगभग सभी परिभाषाओं में श्रम के आर्थिक पक्ष पर ही ज़ोर दिया गया है, उसका रचनात्मक, आनंददायक पक्ष नदारद है। लेकिन मार्क्स ने दोनों पक्षों को अपने सिद्धांत में समावेशित किया है।

निस्संदेह पुस्तक की उपलब्धि गाँधी के शारीरिक श्रम के सिद्धांत का व्यापक विवेचन है जो द्वितीय अध्याय में लेखक ने विद्वत्तापूर्वक किया है। अक्सर हम श्रम-पूँजी संबंध एवं न्यासिता सिद्धांत (ट्रस्टीशिप) को ही गाँधी की श्रम-दृष्टि का पर्याय मान लेने की भूल कर बैठते हैं जो उचित नहीं है। एक और महत्त्वपूर्ण बात जो लेखक के विवेचन से सामने आती है वह है कि टॉल्स्टॉय और रस्किन के प्रभाव को गाँधी यथावत् स्वीकार नहीं करते, उसमें अपने परिवेश की आवश्यकतानुसार बदलाव भी करते हैं। *गीता* की उनकी व्याख्या भी अस्पष्ट रूप से इसके पीछे है। अत: गाँधी को पूर्व या पश्चिम किसी एक विचार का प्रतिनिधि मानना ग़लत है। यद्यपि शारीरिक श्रम को जो महत्त्व पश्चिम में मिला है वह पूर्व में नहीं मिला। लेखक की विशेषता इसमें है कि उन्होंने शारीरिक श्रम की अवधारणा के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षिक और सांस्कृतिक आयामों का विश्लेषण कर उसे एक अहिंसक व्यक्तित्व और समाज के लिए एक महत्त्वपूर्ण बुनियाद के रूप में स्थापित किया है। भारतीयों में शारीरिक श्रम को हेय दृष्टि से देखने के संस्कार के कारण यह और भी ज़रूरी है कि हम शारीरिक श्रम को सम्मान प्रदान कर श्रमशील वर्गों को समाज में समानता का स्थान दें। यह शारीरिक श्रम से ही सम्भव है क्योंकि शारीरिक श्रम करते हुए सभी लोग समान होते हैं। सभी के द्वारा शारीरिक श्रम से सभी की बुनियादी ज़रूरतें पूरी हो सकती हैं। चूँकि श्रमशील व्यक्ति आवश्यकता

आधारित उपभोग करते हुए उत्पादन करता है, इसलिए शोषण की सम्भावना नहीं रहती। इस तरह शारीरिक श्रम एक नैतिक-आर्थिक गतिविधि बन जाती है जिसके आधार पर परस्पर सहयोगमूलक, अहिंसक अर्थव्यवस्था का निर्माण सम्भव है। शारीरिक श्रम का राजनीतिक आयाम उसे उदात्त राष्ट्र प्रेम और सेवा से जोड़ता है।

गाँधी भारत में एक नयी कार्य संस्कृति लाना चाहते थे जिसमें शारीरिक और बौद्धिक श्रम के बीच स्तर का भेद न हो जिससे समाज के दो छोरों पर खड़े वर्गों को एक साथ लाया जा सके। उनके द्वारा प्रस्तावित 'नयी तालीम' का उद्देश्य भी शारीरिक श्रम के साथ-साथ ही बौद्धिक विकास था। इस तरह जिस श्रममूलक संस्कृति का निर्माण होता है, वह एक अहिंसक समाज का निर्माण करती है। इसमें कृत्रिम आवश्यकताएँ न होने से संसाधनों का शोषण भी नहीं होता। अत: यह न केवल मनुष्य-मनुष्य के बीच अपितु मनुष्य-प्रकृति के बीच भी प्रेममूलक होगी। यह श्रम के सृजन के आनंद की बात कर उसे व्यक्तित्व विकास के साथ भी जोड़ती है जो व्यक्ति को अकेलेपन और अलगाव की समस्या से दूर ले जाता है। इसके अतिरिक्त शारीरिक श्रम की संकल्पना को गाँधी ग्रामीण पुनर्रचना में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं। लेखक ने विभिन्न विद्वानों को उद्धृत करते हुए शारीरिक श्रम की अवधारणा का जो विशद विवेचन प्रस्तुत किया है वह उसे गाँधी विचार में एक केंद्रीय स्थान प्रदान करने में सक्षम है। इसके महत्त्व को गाँधीवादी अध्येता त्रिदीप सुहृद की समझ के समर्थन में वे लिखते हैं : 'शारीरिक श्रम की अवधारणा का समावेश भारतीय संदर्भ में उनका नवाचार था जहाँ समाज के सामाजिक और कर्मकाण्डीय शुद्धता-अशुद्धता का भाव किसी व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले कर्म से जुड़ा था।' (पृ. 91)

शारीरिक श्रम के महत्त्व को रेखांकित करते हुए लेखक ने न केवल इसकी आलोचना को पुस्तक में स्थान दिया है, अपितु उसका उत्तर देने का भी प्रयास किया है। इससे विमर्श बौद्धिक ऊँचाइयों को प्राप्त होता है, एकतरफ़ा नहीं होने पाता। इस आलोचना कि यह अवधारणा फ़ीनिक्स आश्रम और टॉल्स्टॉय फ़ार्म जैसे घनिष्ठ सामुदायिक संगठनों में तो प्रचलित हो सकती है लेकिन जटिल श्रम विभाजन वाले समाजों के अनुकूल नहीं है— के उत्तर में उनका तर्क है कि बिना लागू किये उसकी सफलता-विफलता का विचार बेमानी है। लेकिन क्या यहीं यह सवाल समीचीन नहीं होगा कि क्या आधुनिक औद्योगिक समाजों में जहाँ उत्पादन स्वचालित मशीनों और कम्प्यूटरों पर निर्भर है, शरीर-श्रम के लिए कोई स्थान बचा भी है? और यदि कुछ बचा भी है तो क्या वह उच्च बौद्धिक श्रम के सामने निम्न स्तरीय नहीं माना जाता?

पुस्तक के तीसरे अध्याय में लेखक ने गाँधी के श्रम-विचार को सामाजिक-आर्थिक-शैक्षिक दृष्टि के बरअक्स परखने का प्रयास किया है। लेखक के अनुसार, गाँधी की समस्त वैचारिकी का आधार अस्तित्व मात्र के प्रति एकत्व का विचार है जिसमें मम तथा ममेतर / स्व और पर के बीच प्रेमपूर्ण एवं सृजनात्मक संबंध बनाना शामिल है। इसमें केवल मनुष्य ही नहीं समस्त सृष्टि शामिल है। 'वस्तुत: गाँधी जी के जीवन का सार अहिंसा पर आधारित एक मानवीय सभ्यता का निर्माण करना है।' (पृ. 98) इसे पाने के लिए, 'गाँधी जी एक ऐसी समाज व्यवस्था की कल्पना करते हैं जिसमें सत्ता के किसी भी रूप का केंद्रीकरण न हो क्योंकि यह हिंसक मनोवृत्ति है। उनकी समाज व्यवस्था में आदर्श इकाई स्वावलम्बी मनुष्य व आत्मनिर्भर गाँव हैं।' (पृ. 99) एक अहिंसक व्यक्ति के निर्माण के लिए जहाँ वह एकादश व्रतों की धारणा प्रस्तुत करते हैं वहीं व्यापक बदलाव द्वारा गाँवों की पुनर्रचना करना चाहते हैं जो रोटी के लिए श्रम के नियम पर आधारित हो।

अनेक विद्वानों ने गाँधी के आर्थिक विचारों पर टिप्पणी की है। समीक्ष्य पुस्तक की विशेषता उनमें से कुछ चुने हुए विचारकों की टिप्पणियों के आधार पर एक समन्वित दृष्टि निर्माण है जिससे भ्रांतियों का निवारण किया जा सके। गाँधी के लिए मनुष्य होने का अर्थ ही नैतिक होना है। इसलिए

वे अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र में किसी प्रकार का भेद नहीं स्वीकारते और आधुनिक अर्थशास्त्र की विभिन्न आधारों पर आलोचना करते हैं। वे आधुनिक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के विरोधी हैं क्योंकि वे उत्पादन से उपभोग तक एक हिंसक प्रक्रिया है जिसे वह 'शैतानी सभ्यता' कह कर सम्बोधित करते हैं। वे ग़रीबी का समर्थन नहीं करते वरन् स्वेच्छापूर्ण त्याग पर ज़ोर देते हैं। उनके लिए 'सभ्यता सही अर्थों में आवश्यकताओं के बहुलीकरण में निहित नहीं है, बल्कि उनमें सोच समझकर स्वैच्छिक रूप से कमी करने में है।' (पृ. 113) वे यंत्रों के विरोधी नहीं लेकिन उनके पीछे जो पागलपन चल रहा है उसके विरोधी हैं। समय और श्रम की बचत वे भी चाहते हैं, लेकिन यह किसी ख़ास वर्ग के लिए नहीं, बल्कि सारी मानव जाति के लिए होनी चाहिए। उन्हीं के शब्दों में 'मेरा उद्देश्य तमाम यंत्रों का नाश करने का नहीं बल्कि उनकी हद बाँधने का है।' (पृ. 115) उपर्युक्त उद्धरणों के माध्यम से लेखक मशीनों और तकनीक के बारे में गाँधी की मूल दृष्टि का निरूपण करने में सफल है जिसके बारे में अक्सर यह भ्रांति फैलाई जाती है कि गाँधी तो तकनीक विरोधी थे। लेकिन यहीं यह सवाल भी उठता है कि गाँधी किस तकनीक के समर्थक थे? गाँधी विचार के अध्येताओं के बीच यह प्रश्न बड़ा ही विवाद का विषय रहा है कि क्या वास्तव में ऐसी कोई प्रौद्योगिकी सम्भव है जो अहिंसक समाज की ओर ले जा सके? लेखक का स्पष्ट मत है कि 'प्रौद्योगिकीय विमर्श में पूँजीवादी और साम्यवादी विचारधाराओं में कोई अंतर प्रतीत नहीं होता है। दोनों ही आधुनिक प्रौद्योगिकी को आर्थिक विकास का आधार मानते हैं। पूँजीवाद में यह शोषण स्पष्ट दिखाई देता है तो साम्यवाद में वह नौकरशाही के नियंत्रण द्वारा अभिव्यक्त होता है। दोनों ही विचारधाराओं में मनुष्य को प्रौद्योगिकीय व्यवस्था के बरअक्स नीचा स्थान प्रदान करते हैं।' (पृ. 117) गाँधीवादी विचारक एंथोनी जे.परेल के कथन को उद्धृत करते हुए लेखक ने आधुनिक तकनीक को तीन प्रश्नों— न्याय, पारिस्थितिकी और स्वतंत्रता की कसौटी पर अवांछनीय घोषित किया है और विकल्प के रूप में गाँधी की स्वदेशी की संकल्पना के पक्ष में तर्क प्रस्तुत किया है। पूँजीवाद की आलोचना के रूप में मार्क्स और गाँधी के बीच समानता को लक्षित करते हुए भी लेखक ने स्वदेशी प्रौद्योगिकी में ही अलगाव की समस्या का समाधान पाया है। स्थानीय प्रौद्योगिकी के प्रयोग से व्यक्ति पूरी वस्तु का उत्पादन करता है जो उसे सृजनात्मक संतुष्टि देती है। क्योंकि उपभोग भी स्थानीय होता है, वस्तु के उत्पादन, वितरण और कीमत निर्धारण में उसकी मुख्य भूमिका होती है जिससे अलगाव की समस्या कम हो जाती है। साथ ही स्थानीय संसाधन, श्रम एवं तकनीक के जरिये ही उत्पादन के साधनों पर आम जनता का नियंत्रण रह सकता है। इस तरह, लेखक के अनुसार, 'गाँधी आधुनिक प्रौद्योगिकी द्वारा बृहद् उत्पादन (मास प्रोडक्शन) को लोगों द्वारा वृहद उत्पादन (प्रोडक्शन बाय मासेज़) में तब्दील करते हैं।'(पृ. 122) स्थानीय प्रौद्योगिकी द्वारा आधुनिक प्रौद्योगिकी के स्थानापन्न से केंद्रीकरण की समस्या का समाधान भी विकेंद्रीकरण द्वारा हो जाता है। इसी से प्रेरणा लेकर कई गाँधीवादी विचारकों जैसे शुमाकर, इलिच आदि ने 'मध्यवर्ती समुचित' प्रौद्यागिकी विकसित करने की बात कही लेकिन उनके अवदान की चर्चा करते हुए लेखक इस प्रश्न को उठाने से कतरा गये कि क्यों ऐसी 'समुचित प्रौद्योगिकी' व्यावहारिक प्रयोग में नहीं आ सकी?

औपनिवेशिक शिक्षा द्वारा जनित मानसिक गुलामी को दूर करने और व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए 'हार्ट, हेड ऐंड हेंड' पर आधारित 'नयी तालीम' का विचार भी गाँधी की श्रम-दृष्टि का ही एक अंग है क्योंकि वे शिक्षा के शारीरिक श्रम को अनिवार्य समझते हैं। यह एक प्रगतिशील क़दम है जिसे अपनाने से जाति व्यवस्था वाले समाज से ज़बरदस्त उलटफेर की सम्भावनाएँ प्रस्तुत होती है क्योंकि यह 'श्रमिक के बौद्धिकीकरण' और 'बौद्धिक वर्ग के श्रमीकरण' को प्रस्तावित करती है। यहाँ यह प्रश्न भी समीचीन होगा कि हम इसे अपनाने से क्यों चूक गये।

बड़े पैमाने पर उद्योगीकरण के विरोध में होने के बावजूद गाँधी उससे उत्पन्न समस्याओं को

नज़रअंदाज़ नहीं करते। जहाँ एक ओर स्वामित्व के प्रश्न को वह 'न्यासिता' (ट्रस्टीशिप) के आधार पर हल करना चाहते हैं, वहीं श्रम संगठन, श्रम-पूँजी विवाद के निपटारे ऐसे सवालों पर भी यथावत विचार करते हैं। वे पूँजीपति वर्ग को न्यासी बनने का प्रस्ताव देते हैं, लेकिन एक व्यावहारिक आदर्शवादी की तरह श्रमिक को पूँजीपति के हृदय परिवर्तन का इंतज़ार करने को नहीं कहते, शोषण महसूस होने पर सत्याग्रही बनकर विरोध करने की भी प्रेरणा देते हैं। मूल रूप से गाँधी के उपरोक्त विचारों का विस्तृत विवेचन लेखक ने चौथे अध्याय में 'श्रमिक संगठन और औद्योगिक संबंध' में किया है। लेखक के अनुसार, गाँधी पूँजी और पूँजीपति को स्वीकार करते हैं और उनमें यथासम्भव परिष्कार की सम्भावना देखते हैं, लेकिन वे पूँजीवाद को एक शोषणकारी व्यवस्था मानते हुए उसे समाप्त करना चाहते हैं। इसके लिए वे श्रम और पूँजी के बीच टकराव को आवश्यक नहीं मानते, उनके बीच सामंजस्य बनाने का प्रयास करते हैं। जहाँ एक ओर उन्होंने दोनों को एक-दूसरे का पूरक बताया और आपसी सहयोग पर बल दिया, वहीं श्रमिकों को संगठित होकर अपनी महत्ता पहचानने की भी सीख दी। गाँधी के लिए श्रम संगठन एक साध्य नहीं, साधन है जिसका उद्देश्य महज सौदेबाज़ी नहीं अपितु श्रमिक का सर्वांगीण विकास करना है। श्रम संगठन का नेतृत्व अपना होना चाहिए और अपनी मूल भावना में वह पूँजीपति विरोधी नहीं होना चाहिए। उसका विरोध पूँजीवाद से है, पूँजीपति से नहीं। वे वर्ग संघर्ष के बजाय वर्ग सहयोग की बात करते हैं और श्रमिकों को अहिंसक होने की ओर उन्मुख करना चाहते हैं और इसके लिए प्रशिक्षण की आवश्यकता भी महसूस करते हैं। लेखक ने गाँधी के योगदान के दो बिंदुओं को स्पष्ट रूप से रेखांकित किया है, 'वे श्रमिकों को अंशधारकों के समकक्ष मानने को प्रस्तुत करते हैं। श्रमिकों को अंशधारकों के समकक्ष मानना उन्हें परम्परागत भूमिका से आगे बढ़कर नीति निर्णय में भागीदार बनाता है। साथ ही एक अन्य महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि वह मज़दूरों के इस अधिकार को स्वीकार करते हैं कि उन्हें मिल के क्रियाकलापों, निर्णयों की जानकारी रखने का पूरा अधिकार है।' (पृ. 156)

> श्रममूलक संस्कृति ... एक अहिंसक समाज का निर्माण करती है। इसमें कृत्रिम आवश्यकताएँ न होने से संसाधनों का शोषण भी नहीं होता। अतः यह न केवल मनुष्य-मनुष्य के बीच अपितु मनुष्य-प्रकृति के बीच भी प्रेममूलक होगी। यह श्रम के सृजन के आनंद की बात कर उसे व्यक्तित्व विकास के साथ भी जोड़ती है जो व्यक्ति को अकेलेपन और अलगाव की समस्या से दूर ले जाता है। इसके अतिरिक्त शारीरिक श्रम की संकल्पना को गाँधी ग्रामीण पुनर्रचना में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं।

उक्त आदर्श स्थिति आने से पूर्व श्रमिक और पूँजीपति के बीच विवादों के निपटारे के लिए गाँधी एक व्यवस्थित संघर्ष समाधान व्यवस्था बनाना चाहते हैं। लेखक ने 'त्रिस्तरीय सिद्धांत' द्वारा उसका प्रारूप देने का प्रयत्न किया है, जो उल्लेखनीय है। इसमें प्रथम स्तर आपसी संवाद का है, दूसरा मध्यस्थता का और तीसरा स्तर पंच निर्णय का है। गाँधी ने समय-समय पर श्रमिक संघर्ष में इन व्यवस्थाओं का उपयोग किया था। लेकिन पूँजीपति द्वारा मध्यस्थता स्वीकार न किये जाने की स्थिति में गाँधी श्रमिकों द्वारा हड़ताल के प्रयोग को भी स्वीकार करते हैं। लेकिन इस बारे में वे बहुत सावधानी और बुद्धिमानीपूर्ण व्यवहार की अपेक्षा रखते हैं और कई प्रकार की शर्तें भी लगाते हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे श्रमिक संघ को राजनीतिक होने से मना करते हैं क्योंकि श्रमिक न तो शिक्षित है और न जागरूक, राजनैतिक दलों द्वारा अपने स्वार्थ के लिए उनका दुरुपयोग हो सकता है। लेखक ने ठीक

ही इंगित किया है कि 'गाँधी जी ने हड़ताल को भी सत्य अहिंसा पर आधारित कर उसे नवीन रूप प्रदान किया।' (पृ. 161)

स्वामित्व की समस्या पर विचार करते हुए गाँधी ने न्यासिता (ट्रस्टीशिप) का सिद्धांत प्रस्तुत किया जिसमें उनके जीवन-दर्शन के अनुरूप पूर्वी और पश्चिमी सांस्कृतिक विरासतों के तत्व मौजूद हैं। न तो वे क्रांति द्वारा व्यवस्था बदलने के मार्क्सवादी विचार से सहमत थे और न आभिजात्य पूँजीपति वर्ग द्वारा यथास्थिति बनाए रखने के पक्षधर। यज्ञ की अवधारणा और 'ईशावास्यमिदम् सर्वम्' के माध्यम से गाँधी 'अनासक्त स्वामित्व' की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं जो केवल व्यक्तिगत सदाशयता पर निर्भर नहीं रहता अपितु अहिंसक ढंग से लाया गया संस्थागत परिवर्तन बन जाता है। वे अस्तेय और अपरिग्रह को एक अहिंसक अर्थव्यवस्था की बुनियाद बनाते हैं जिसमें सामाजिक न्याय को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं। आदर्श रूप में वे समान वितरण को स्वीकारते हैं, लेकिन उनका प्रयास न्यायोचित वितरण पाने का है। गाँधी पूँजीपतियों से यह उम्मीद / आग्रह करते हैं कि उन्हें एक न्यासी के रूप में कार्य करना चाहिए और अपनी पूँजी को न्यास में बदल कर उसका उपभोग समाज हित में करना चाहिए। पूँजीपतियों के हृदय परिवर्तन का विचार गाँधी की मौलिक देन है। लेकिन पूँजीपतियों द्वारा स्वेच्छापूर्वक न्यासिता का सिद्धांत स्वीकार न किये जाने पर वे राज्य के हस्तक्षेप को स्वीकार करते हैं। लेखक की सफलता इसमें है कि उसने न्यासिता की अवधारणा और प्रयोगों को विस्तार से समझाने का प्रयत्न तो किया ही है, लेकिन साथ ही न्यासिता की आलोचना को भी समुचित स्थान देकर उनका उत्तर देने का भी प्रयत्न किया है।

गाँधी के समकालीन और परवर्ती विचारकों ने न्यासिता के सिद्धांत की काफ़ी आलोचना की है। इनमें गुन्नार मिर्डल, प्रो. दाँतवाला, ई.एम.एस. नम्बूदरीपाद, हीरेन मुखर्जी, आम्बेडकर, नेहरू और आचार्य कृपलानी के अलावा भी अनेक विद्वान शामिल हैं। इसे बूर्ज्वा वर्ग की सहायता करने वाला, यथास्थितिवादी, अस्पष्ट, देखने में क्रांतिकारी लेकिन अव्यावहारिक कह कर कड़ी आलोचनाएँ की गयी हैं। लेखक का मत है कि ये सारी आलोचनाएँ न्यासिता सिद्धांत को केवल 'हृदय परिवर्तन' तक ही सीमित मानने का परिणाम है। यदि इसके 'चतुर्यामी' रूप को समझा जाए तो स्पष्ट होता है कि, उन्हीं के शब्दों में 'न्यासिता में केवल हृदय परिवर्तन ही नहीं बल्कि सक्रिय अहिंसक संघर्ष, राज्यसात्करण और उपभोक्ता द्वारा किया गया बहिष्कार भी शामिल है। यह एक बेहतर समाज की रचना का दीर्घकालिक उपाय है।' (पृ. 181) जहाँ तक इसकी व्यावहारिकता का सवाल है तो पूर्व में किये गये ऐसे प्रयोगों को जनता के बीच लाकर, उन पर बहस कर, जागरूकता फैलाने के बाद ही कोई निर्णय लिया जाना चाहिए क्योंकि जब पहले-पहल गाँधी ने स्वराज्य प्राप्ति के लिए अहिंसक संघर्ष की बात की थी तो उसे भी अधिकांश ने अव्यावहारिक क़रार दिया था। पुस्तक का यह अध्याय, आलोचनात्मक दृष्टि से काफ़ी सम्पन्न है और उन सभी पाठकों, चाहे वे गाँधीवादी हों या गाँधी विरोधी, द्वारा ध्यान से पढ़े जाने की उम्मीद जगाता है, इस विषय पर दोबारा सोचने के लिए विवश करने के लिए लेखक बधाई के पात्र हैं।

समीक्ष्य कृति की एक विशेषता यह भी है कि इसमें तीन परवर्ती विचारकों— विनोबा भावे, जे.सी. कुमारप्पा और राम मनोहर लोहिया द्वारा गाँधी श्रम-दृष्टि के विकास को भी चर्चा का विषय बनाया गया है। निश्चय ही कई मायनों में विनोबा की व्याख्या मौलिक और क्रांतिकारी है। गाँधी की तरह शारीरिक श्रम से छुटकारा उन्हें स्वीकार्य नहीं है, लेकिन वे उसे अध्यात्म से जोड़ते हैं। 'उनके लिए अध्यात्म की साधना समाज से पलायन या एकांत में स्वयं सिद्धि की साधना नहीं बल्कि शारीरिक श्रम के माध्यम से दैनंदिन जीवन की समस्याओं का निवारण कर समन्वय स्थापित करते हुए एकत्व की साधना है।' (पृ. 195) गाँधी से उनकी भिन्नता इस बात को लेकर भी है कि जहाँ गाँधी बौद्धिक श्रम को महत्त्व प्रदान करते हुए भी उसे शारीरिक श्रम का स्थानापन्न मानने से इंकार करते हैं वहीं विनोबा

दोनों में समन्वय और दोनों की प्रतिष्ठा एक साथ स्वीकारते हैं। वे केवल 'ब्रेड लेबर' को आधार नहीं मानते। इसे वे वाल्मीकि और अरविंद का उदाहरण से स्पष्ट करते हैं कि काव्य लिख कर भी शारीरिक श्रम का मुख्य हेतु सृष्टि के साथ एकरूप हुआ जा सकता है।

विनोबा ट्रस्टीशिप के स्थान पर 'विश्वस्त-वृत्ति' शब्द का प्रयोग करते हैं, जिसका अर्थ है दूसरों पर विश्वास रखते हुए जीना। इस विषय में उनके अवदान को लेखक ने डॉ. दशरथ सिंह के कथन से समेटने की प्रशंसनीय चेष्टा की है, 'गाँधी ट्रस्टीशिप सिद्धांत के अंतर्गत वितरण का निश्चित विचार शास्त्रीय रूप से पल्लवित नहीं कर सके थे। विनोबा ने भूदान, सम्पत्तिदान और ग्रामदान आंदोलन से कितना समाज को देना है— इसे तय किया। दान द्वारा भूमि, सम्पत्ति की समस्या का हल निकालना और स्वालम्बन युक्त परस्पर विश्वासपूर्ण समाज की रचना की कल्पना करना ट्रस्टीशिप का व्यापक प्रयोग है।' (पृ. 206)

पिछले दिनों नंद किशोर आचार्य की विनोबा दर्शन पर आयी महत्त्वपूर्ण पुस्तक *साम्ययोग के आयाम* में विनोबा के अवदान के दो अन्य महत्त्वपूर्ण बिंदुओं पर चर्चा की गयी है। प्रथम, विनोबा की कर्मवाद की मौलिक व्याख्या और दूसरा, अध्यात्म के संबंध में उनका मत। कर्मवाद की पूर्णत: वैयक्तिक अवधारणा कि 'प्रत्येक व्यक्ति सिर्फ़ और सिर्फ़ अपने कर्मों का ही फल भोगता है' से असहमति जताते हुए विनोबा मानते हैं कि व्यक्ति और समाज चूँकि अंश और अंशी है, उनके कर्म अनिवार्यत: एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इसलिए व्यक्ति के दुख, पीड़ा या कष्ट के लिए सामाजिक संरचनात्मक कारणों की भी खोज की जानी चाहिए। इसी तरह, अहिंसक अध्यात्मवादियों के विपरीत विनोबा अध्यात्म को भी विज्ञान की तरह एक अनवरत प्रक्रिया मानते हैं, अत: अध्यात्म के क्षेत्र में भी किसी अंतिम सत्य को मान लेने का दावा नहीं किया जा सकता। अत: विनोबा द्वारा अपने मौलिक विचारों से गाँधी दृष्टि को व्याख्यायित कर समृद्ध किये जाने के लेखक के निष्कर्ष में शायद ही कोई असहमत हो किंतु स्वतंत्र भारत में विनोबा द्वारा चलाए गये भूदान, ग्रामदान आदि कार्यक्रमों की सफलता/असफलता पर उनकी आलोचनात्मक टिप्पणी भी अपेक्षित थी जिसका अभाव खटकता है।

गाँधी के आर्थिक विचारों के व्याख्याकार और उनके ग्रामीण अर्थव्यवस्था कार्यक्रमों के योजनाकार के रूप में जे.सी. कुमारप्पा के योगदान से हम सभी परिचित हैं। लेखक ने भी उन्हें 'गाँधीवादी अर्थशास्त्र' का सर्वश्रेष्ठ व्याख्याकार माना है। जहाँ गाँधी के अन्य सहयोगी वितरणमूलक न्याय की बात कर रहे थे, वहीं कुमारप्पा पारिस्थितिकीय मुद्दों को भी अपने 'स्थायित्व के अर्थशास्त्र के ज़रिये अपना विषय बना रहे थे। इसी दृष्टि के कारण उन्हें भारत में 'हरित विचारों का जनक' भी कहा जा सकता है।

यहूदी-ईसाई परम्परा, जिसमें श्रम को 'ईश्वर के शाप' की तरह देखा गया है, के विपरीत कुमारप्पा श्रम के दोनों अंगों, मेहनत और सृजनात्मकता, को समान महत्त्व प्रदान करते हैं। दैनंदिन जीवन में श्रम के तीनों प्रकारों की तुलनात्मक चर्चा करते हुए वे 'आत्म निश्चयपूर्वक उद्देश्य की पूर्ति हेतु श्रम को मनुष्य की उच्चतर शक्तियों के विकास की ओर ले जाने वाला सच्चा श्रम मानते हैं। श्रम की सांस्कृतिक भूमिका को प्रधानता देते हुए वे एक ऐसी व्यवस्था बनाने का प्रस्ताव रखते हैं जिसमें श्रम सम्पत्ति और शक्ति संचित करने का साधन न होकर उनके वितरण का साधन बने। इसी कारण वे पूँजीवाद और साम्यवाद को तिरस्कृत करते हैं क्योंकि दोनों में श्रम का ध्येय शक्ति का केंद्रीकरण करना है। उनके आर्थिक दर्शन के केंद्र में 'मनुष्य और उसका सर्वांगीण विकास है जो उन्हें अन्य
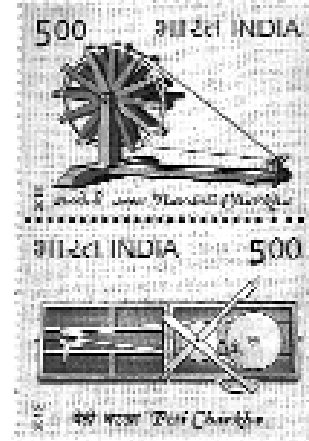
अर्थशास्त्रियों से अलग करता है। कुमारप्पा के लिए उत्पादन, वितरण, क्रय-विक्रय आदि सभी आर्थिक क्रियाएँ नैतिकता से अलग नहीं हैं। इसी उद्देश्य के व्यावहारिक क्रियान्वयन हेतु स्वनिर्भर, संगठित गाँवों के निर्माण की योजना उन्होंने प्रस्तुत की जिसमें ग्रामीण जनता शोषणमुक्त, सुखी और समृद्ध हो सके। ऐसा ग्रामीण पुनर्निर्माण ही अहिंसक समाज की नींव होगा। लेखक के इस निष्कर्ष से असहमत होने का कोई कारण नहीं है कि कुमारप्पा अपने सूक्ष्म विश्लेषण और अकाट्य तर्कों से गाँधीवादी आर्थिक विचारों को एक व्यवस्थित रूप प्रदान कर आर्थिक दर्शन में तब्दील कर देते हैं। लेकिन उन्हें इस प्रश्न पर भी कुछ रोशनी डालनी चाहिए थी कि स्वतंत्र भारत में ग्रामीण पुनर्निर्माण का यह वैचारिक योद्धा पीछे क्यों रह गया।

अपने को 'कुजात गाँधीवादी' मानने वाले राम मनोहर लोहिया परम्परागत अर्थों में गाँधीवादी नहीं थे। उन्हें गाँधी का 'समालोचक भक्त' भी कहा जाता है। लेकिन गाँधी-विचार की समसामयिक पुनर्व्याख्या एवं विश्लेषण करने के कारण उनके महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। उनको पुस्तक में स्थान देकर लेखक ने अपनी खुली समालोचनात्मक दृष्टि का परिचय दिया है। लेखक का यह कहना उचित ही है कि 'हालाँकि लोहिया में स्पष्ट रूप से श्रम पर अपने विचार स्पष्ट नहीं किये परंतु जाति की उनकी आलोचना यह स्पष्ट करती है कि श्रम विचार उनके लिए महत्त्वपूर्ण है।' ...'वस्तुत: लोहिया हिंदुस्तान की दुर्गति का सबसे बड़ा कारण जाति प्रथा को बताते हैं। वह जाति प्रथा का विरोध भी इसलिए करते हैं क्योंकि इसने शारीरिक श्रम को हेय और शोषण करने को मान्य बनाया है। जाति प्रथा के कारण ही लोगों की शारीरिक श्रम करने की आदत छूट गयी है।' (पृ. 233) इसीलिए वे शारीरिक श्रम और उससे जुड़े जाति-समूहों को सम्मानजनक स्थान दिये जाने के पक्षधर हैं और राष्ट्र निर्माण में श्रमशील जनता की महत्त्वपूर्ण भूमिका वह स्वीकारते हैं। इसीलिए वे जाति उन्मूलन पर अत्यधिक ज़ोर देते हैं।

लोहिया वर्तमान सभ्यता के दोनों रूपों, पूँजीवाद और साम्यवाद, को नवीन सभ्यता के निर्माण के लिए अप्रासंगिक मानते हैं क्योंकि दोनों ही केंद्रीकरण की विचारधाराएँ हैं। लेनिन की इस मान्यता कि 'साम्राज्यवाद पूँजीवाद की अंतिम अवस्था है' से मतभेद व्यक्त करते हुए लोहिया ने बताया कि पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का प्रारम्भ और विकास एक साथ हुआ है। उनके अनुसार पूँजीवाद के विकास के लिए बाहरी उपनिवेश ज़रूरी है जो सस्ता कच्चा माल और श्रम प्राप्ति और उत्पादन के लिए बाज़ार उपलब्ध करा सकें। लोहिया व्यक्तिगत सम्पत्ति को समाप्त करना चाहते हैं क्योंकि वह शोषण का मूल कारण है। एक ओर वे सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण पर ज़ोर देते हैं तो दूसरी ओर भूमि पुनर्वितरण को भी बहुत आवश्यक मानते हैं। सतत बढ़ते उत्पादन/उपभोग के स्थान पर हमें सम्मानजनक जीवन स्तर का अपना लक्ष्य बनाना चाहिए।

लेखक ने ठीक ही लक्षित किया है कि 'महात्मा गाँधी के बाद लोहिया ही ऐसे विचारक हैं जिन्होंने प्रौद्योगिकी के सवाल को गम्भीरता से लिया तथा उसे काफ़ी विस्तार से अभिव्यक्त किया।' (पृ. 239) लोहिया का स्पष्ट मत था कि आधुनिक प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल विभिन्न तरीक़ों से किया जा सकता है। यह मानना ग़लत है कि बड़ी और जटिल प्रौद्योगिकी सबसे अधिक कार्यकुशल भी होगी। औद्योगीकरण को समाजवाद समझना भूल है। अत: भारत ऐसे देश में जहाँ जनशक्ति की बहुलता है छोटी मशीन को अपनाना ज़्यादा बुद्धिमत्तापूर्ण क़दम होगा। दैत्य-मशीनों की तुलना में छोटी मशीन आसानी से समझी और काबू में रहने वाली है। यह आर्थिक दृष्टि में सक्षम और सांस्कृतिक एकरसता की विरोधी भी है। उनके अनुसार 'छोटी मशीन का सिद्धांत' नयी सभ्यता का नया यांत्रिक आधार भी निर्मित करता है जिसमें प्रबंध और प्रशासन के विकेंद्रीकरण के साथ-साथ प्रौद्योगिकी का भी विकेंद्रीकरण होगा। लेकिन इसका मतलब भारी उद्योगों की आवश्यकता को पूरी तरह ख़ारिज करना नहीं है। वे भारी उद्योगों को स्वीकारते हैं परंतु उनका स्वामित्व राष्ट्रीकरण में होना चाहिए।

लेकिन गाँधी से लोहिया इस बात में भिन्न है कि वे चरखा और छोटी मशीन में फ़र्क़ करते हैं। वे छोटी मशीन की कल्पना के पीछे विकेंद्रीकरण की बात तो स्वीकारते हैं, लेकिन उत्पादकता के स्तर को भी स्वचालित चरखा के स्तर से बढ़ाना चाहते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि 'हम महात्मा गाँधी का प्रेत नहीं, उनके सिद्धांत चाहते हैं।'

'सप्तक्रांति' की अवधारणा को लोहिया के समाजवाद का सार कहा जा सकता है जिसमें योजनाबद्ध विकास और व्यक्ति स्वातंत्र्य प्रमुख सिद्धांत हैं। वे ऐसे समाज की परिकल्पना करते हैं जिसमें सभी प्रकार की समानता और स्वतंत्रता के मूल्य रोज़मर्रा के जीवन के अंग हों। इसकी प्राप्ति के लिए वे 'सिविल नाफ़रमानी' पर ज़ोर देते हैं। गाँधी के सत्याग्रह को लोहिया सिविल नाफ़रमानी के रूप में व्याख्यायित करते हैं। उनके अनुसार परिवर्तन के लिए कष्ट सह कर प्रतिपक्षी का हृदय परिवर्तन पर बल देना आवश्यक है, लेकिन यदि हृदय परिवर्तन नहीं होता तो जनेच्छा को जागृत कर प्रतिपक्षी को जनेच्छा के अनुसार काम करने को प्रवृत्त किया जाना चाहिए। इसलिए हृदय परिवर्तन के साथ-साथ जनेच्छा भी महत्त्वपूर्ण है। सरकारें भी जन दबाव से सही दिशा में कार्य करती हैं लेकिन आंदोलन अहिंसक ही होना चाहिए। सातों क्रांतियों में सिविल नाफ़रमानी की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। लेखक ने सिविल नाफ़रमानी के प्रत्यय को और स्पष्ट करने का प्रयास करते हुए ठीक ही इंगित किया है कि अपनी समाजवादी पृष्ठभूमि के चलते लोहिया सत्याग्रह और वर्ग संघर्ष में सामंजस्य करके 'अहिंसक वर्ग संघर्ष' जैसी संकल्पना प्रस्तुत कर रहे हैं। उनकी प्रसिद्ध युक्ति, 'मारेंगे नहीं, लेकिन मानेंगे भी नहीं' से सिविल नाफ़रमानी का अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि यह तर्क और हथियार का सम्मिश्रण है क्योंकि इसमें एक और तर्क का माधुर्य है तो दूसरी ओर अहिंसक हथियार का बल भी है। अर्थ को और भी स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि विरोधी के दिल के गुस्से को दूर किये जाने से और भी बड़ा अर्थ यह है कि जनता के दिल की कमज़ोरी को दूर किया जाए। लेखक का यह निष्कर्ष कि 'अशक्त हो रहे गाँधी विचार और तरीक़े को उन्होंने बेहद कष्ट और जोखिम उठाकर पुन: प्रतिष्ठित किया' (पृ. 249) सही प्रतीत होता है। लेकिन लोहिया के बाद यह धारा किस तरह सूखती चली गयी इस पर भी थोड़ा विचार होना चाहिए। क्यों जाति व्यवस्था के ख़िलाफ़ लड़ाई लोहिया के समर्थकों के हाथ में जाति को और मजबूत करती चली गयी?

गाँधी जिस अहिंसक समाज की परिकल्पना प्रस्तुत करते हैं, वह दो पूर्व मान्यताओं, ऐच्छिक रूप से सादी जीवन शैली और नैतिक मनुष्य, की अवधारणा पर आधारित है किंतु क्या मनुष्य इतना नैतिक है या होना चाहता है याकि हो सकता है और क्या वह उच्च तकनीक आधारित उपभोक्तावादी जीवन शैली छोड़ने को तैयार है या होगा? बेरोज़गारी का भय, रोज़गार छूटने की आशंका और करियर बनाने की चूहा दौड़ के बीच झूलता आज का श्रमिक किसी गाँधीवादी/समाजवादी सांस्कृतिक चेतना से लैस नहीं दीखता। श्रम उसके लिए अधिकतम उपभोग के लिए अधिकाधिक पैसा कमाने का साधन मात्र रह गया है, किसी मूल्यबोध की उपलब्धि का माध्यम नहीं।

निस्संदेह पुस्तक का उपसंहार लेखक द्वारा पूर्व के अध्यायों में किये गये विश्लेषण का उत्तम सार है जिसमें उन्होंने संक्षेप में अपनी दृष्टि प्रस्तुत की है। केवल उपसंहार पढ़ कर भी कोई पाठक उनके विचारों का परिचय पा सकता है। अपनी बात उन्होंने इस

प्रश्न से शुरू की है कि 'यदि किसी समाज में तकनीकी विकास के ज़रिये बेरोज़गारी की समस्या हल कर ली गयी हो तो क्या उस समाज में श्रम अप्रासंगिक हो जाएगा या औद्योगिक शांति होने मात्र से श्रम पर चर्चा व्यर्थ होगी? उनका स्पष्ट उत्तर नकारात्मक है क्योंकि वे श्रम को केवल आर्थिक विचार तक सीमित नहीं मानते अपितु सांस्कृतिक मूल्यबोध की प्रक्रिया/विचार भी मानते हैं जिससे सृजनात्मक आनंद, आत्माभिव्यक्ति, समानुभूति और शोषणहीनता यानी समानता के सांस्कृतिक मूल्यों की भी पुष्टि हो सके। लेकिन लेखक इस बात से अच्छी तरह अवगत है कि वर्तमान में श्रम विवशता का पर्याय है, हम समतामूलक समाज की रचना नहीं कर पा रहे हैं। ऐसे में स्वामित्व का सवाल भी आर्थिक के साथ-साथ नैतिक सवाल भी हो जाता है। लोकतंत्र के तर्क को स्वीकारते हुए किसी एक व्यक्ति/परिवार/संस्था/समूह के स्वामित्व के भरोसे अर्थव्यवस्था को छोड़ना अनुचित है। यही न्यासिता के विचार को औचित्य प्रदान करता है, उनका कहना है, 'यदि हम लोकतंत्र को स्वतंत्रता एवं समानता के मूल्यबोध के रूप में स्वीकार करते हैं तो अर्थव्यवस्था में भी हमें इस लोकतंत्रीकरण को स्वीकार करना होगा। न्यासिता का विचार अर्थव्यवस्था के लोकतंत्रीकरण का ही विचार है जो यह मानता है कि पूँजी भी सत्ता का एक प्रकार है अत: उसका भी लोकतंत्रीकरण होना चाहिए। यह लोकतंत्रीकरण विकेंद्रीकरण, सामुदायिक स्वामित्व एवं सामाजिक न्याय द्वारा सम्भव किया जा सकता है।' (पृ. 262-263)

गाँधी के श्रम संबंधी विचारों का सार-संक्षेप प्रस्तुत करते हुए लेखक ने उसे आधुनिक पूँजीवाद और आधुनिक प्रौद्योगिकी की आलोचना से जोड़ने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। यहीं पर, सोवियत संघ के विघटन के बाद, विकल्प के रूप में आगे आ रही साम्यवाद की पुनर्व्याख्या से भी सीख लेने का प्रस्ताव वे करते हैं, जो सराहनीय है। वे कनाडा के मार्क्सवादी विद्वान मिशेल लेबोविट्स द्वारा प्रस्तुत समाजवादी विकल्प और गाँधी के विचारों में स्पष्ट साम्यता पाते हैं। अर्जुन दासगुप्ता की रिपोर्ट (2009) के हवाले से ग्रामीण अर्थव्यवस्था के ख़स्ताहाल होने की वे चर्चा करते हैं, जिससे आज हम सभी परिचित हैं। ऐसे में गाँधी के ग्रामोत्थान के प्रयासों की प्रासंगिकता स्पष्ट है। अंत में उनका निष्कर्ष है कि 'एक विकेंद्रित और श्रममूलक प्रौद्योगिकी पर आश्रित आवश्यकतापरक मानववादी आर्थिक प्रक्रिया ही एक सही विकल्प दे सकती है' (पृ. 272) उनके अनुसार श्रम समस्या के समाधान में औद्योगिक शांति, अहिंसक संघर्ष की तात्कालिक भूमिका से इंकार नहीं किया जा सकता, लेकिन स्थायी समाधान के लिए समस्त मानवीय आचरण और संस्थाओं को सत्यनिष्ठ और अहिंसक बनाना होगा। यही गाँधी श्रम-दृष्टि की प्रासंगिकता है। मनुष्यता को बचाने के लिए इस मार्ग का सहारा लेना ही होगा।

निश्चय ही शम्भू जोशी की समीक्ष्य कृति गाँधी की श्रम-दृष्टि के विश्लेषण और उनकी वर्तमान में प्रासंगिकता स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास है जिसकी तारीफ़ की जानी चाहिए। प्रत्येक अध्याय के पीछे संदर्भों की लम्बी सूची उनके गहन अध्यवसाय और विद्वत्ता का परिचय देते हैं। पीएचडी के लिए लिखे गये किसी भी शोधग्रंथ में दोहराव और विषय पर अन्य विद्वानों के विचारों का जमाव आ ही जाता है, यह ग्रंथ भी उससे पूरी तरह मुक्त नहीं है। कहीं-कहीं प्रूफ़ संबंधी ग़लतियाँ भी हैं जो अगले संस्करण में सुधारी जा सकती हैं। पुस्तक की भाषा सरल, प्रवाहपूर्ण और गम्भीर विषय को प्रबुद्ध सामान्य जन तक सम्प्रेषित करने में सफल है। उम्मीद है गाँधी के विचार के सामान्यत: उपेक्षित पक्ष, शरीर-श्रम की अवधारणा को उकेरती यह पुस्तक विद्वानों के बीच भी नयी चर्चा को जन्म देगी और न केवल गाँधी दर्शन के अध्येताओं, शोधार्थियों, छात्रों वरन् सामान्य प्रबुद्ध पाठक के लिए भी उपयोगी साबित होगी।

अंत में, मेरी दृष्टि में किसी भी पुस्तक के प्रकाशन की सार्थकता केवल इसमें नहीं है कि वह विषय से जुड़े कितने सवालों का उत्तर देती है, बल्कि इसमें भी है कि वह कितने नये सवालों को

जन्म देती है। गाँधी श्रम दर्शन से संबंधित समस्याओं का समाधान देने का प्रशंसनीय प्रयास तो लेखक ने किया ही है, लेकिन पुस्तक पढ़ने के बाद कुछ नये सवाल भी मन में उभरते हैं। गाँधी जिस अहिंसक समाज की परिकल्पना प्रस्तुत करते हैं, वह दो पूर्व मान्यताओं, ऐच्छिक रूप से सादी जीवन शैली और नैतिक मनुष्य, की अवधारणा पर आधारित है किंतु क्या मनुष्य इतना नैतिक है या होना चाहता है या कि हो सकता है और क्या वह उच्च तकनीक आधारित उपभोक्तावादी जीवन-शैली छोड़ने को तैयार है या होगा? बेरोज़गारी का भय, रोज़गार छूटने की आशंका और करियर बनाने की चूहा-दौड़ के बीच झूलता आज का श्रमिक किसी गाँधीवादी/समाजवादी सांस्कृतिक चेतना से लैस नहीं दीखता। श्रम उसके लिए अधिकतम उपभोग के लिए अधिकाधिक पैसा कमाने का साधन मात्र रह गया है, किसी मूल्यबोध की उपलब्धि का माध्यम नहीं। ऐसे में अहिंसक श्रम आधारित अहिंसक समाज के निर्माण की गाँधी-परियोजना का एक स्वप्न मात्र प्रतीत होती है। आशा है अपने अगले ग्रंथ में शम्भू जोशी इन चुनौतियों पर भी विचार करेंगे। अभी तो, इस पुस्तक के लिए वे बधाई और साधुवाद के पात्र हैं।